मराठी अनुवाद

अनुवादक- श्रीकृष्ण खडपेकर

पञ्चवटी

पञ्चवटी

(मूल पाठ एवं मराठी अनुवाद)

रचयिता

मैथिलीशरण गुप्त

अनुवादक

श्रीकृष्ण खडपेकर

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९९३

मूल्य : रु० ३०/-

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक : **प्रिन्टेक,** ३४१/२२, शास्त्री नगर
इलाहाबाद

प्रकाशकीय

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की लोकप्रिय कृति 'पञ्चवटी' का सुप्रसिद्ध वास्तुविद् एवं साहित्यानुरागी श्री श्रीकृष्ण खडपेकर कृत मराठी अनुवाद प्रकाशित करते हुए विशेष प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है।

भारत की सामासिक संस्कृति के संवर्द्धन में भारतीय भाषाओं की समृद्ध परम्परा का योगदान सर्वश्रुत है। अतएव हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भारतीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण कृतियों को द्विभाषिक रूप में प्रकाशित करने की एक योजना संचालित की है। इस शृंखला में डॉ० जगदीश गुप्त की कविता–पुस्तक 'माँ के लिए' का श्री पी० के० बाल सुब्राह्मण्यन् कृत तमिल अनुवाद प्रकाशित किया गया है। उसी शृंखला में 'पञ्चवटी' का यह मराठी अनुवाद सुधी पाठकों के आस्वाद हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है।

एकेडेमी इस योजना को अग्रसारित करने की दिशा में प्रयासरत है। विश्वास है, इससे भारतीय भाषाओं का बांधव्य-भाव वृद्धिंगत होगा और इससे भाषायी आदान-प्रदान की स्वस्थ परम्परा के माध्यम से राष्ट्रीय ऐक्य को बढ़ाने और स्थायित्व प्रदान करने में सहायता मिलेगी।

आशा है, प्रस्तुत प्रकाशन सुविज्ञ पाठकों को रुचेगा।

हरिमोहन मालवीय

सचिव

दो शब्द

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को हिन्दी साहित्य में जो गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुआ, उसका मूल कारण उनकी सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीय भावना, सर्व-धर्म-समभाव और जनजीवन के साथ गहरी संपृक्ति है। भारतीय जनता में उनके काव्य इतने अधिक लोकप्रिय बन सके कि जनता ने उन्हें सहज ही राष्ट्रकवि के रूप मे स्वीकार कर लिया। गुप्त जी का काव्य एक ओर तो राष्ट्रीयता का प्रतीक बना और दूसरी ओर भारतीय संस्कृति का।

गुप्त जी रामभक्त-कवि है। उनकी अब तक चालीस मौलिक तथा छह अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। सन् १९१२ में 'भारत भारती' निकली और १९३२ में 'साकेत'। 'पञ्चवटी' का प्रकाशन-वर्ष सं० १९८२ वि० (सन् १९२५) है। संभवतः साकेत-लेखन की पृष्ठभूमि 'पञ्चवटी' बनी। उनके काव्य में जीवन का अनन्त वैविध्य और विस्तार समाहित है। यह वैविध्य-विस्तार देशगत भी है और कालगत भी।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने राष्ट्रीय समरसता, एकता और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के बृहत्तर उद्देश्य को दृष्टि में रखकर दो योजनाएँ स्वतः स्वीकार की हैं। एक, अन्य भाषाभाषी विद्वानों द्वारा हिन्दी में महत्त्वपूर्ण और पठनीय सामग्री प्रस्तुत करना; और दूसरा, द्विभाषी अनुवाद-प्रकाशन। दूसरी योजना के अन्तर्गत कुछेक पुस्तकें प्रकाशित भी हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'पञ्चवटी' का मराठी अनुवाद है। यह पुस्तक एकेडेमी की दूसरी योजना के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसके अनुवादक श्री श्रीकृष्ण खडपेकर के प्रति आभार प्रकट करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। खडपेकर जी वस्तुतः एक कुशल वास्तुविद् हैं और आपने मराठी में श्रेष्ठ कविताएँ भी लिखी हैं। वृद्धावस्था की अनेक व्याधियों के रहते हुए भी आप बहुत कर्मठ और कार्य के प्रति निरन्तर सचेष्ट हैं। ढलती पीढ़ी के एक निःस्वार्थ योद्धा......! प्रस्तुत कृति के प्रकाशन के संदर्भ में डॉ० प्रभाकर माचवे ने बड़ी अभिरुचि व्यक्त की थी।

अन्त में जिस बृहत्तर उद्देश्य को ध्यान में रखकर एकेडेमी ने इसका प्रकाशन किया है, वह प्रभावी होगा। आशा है, विद्वत्जनों के बीच 'पञ्चवटी' का यह मराठी अनुवाद समानरूपेण समादृत होगा।

—जगदीश गुप्त

अध्य

निवेदन

पंचवटी सन्निधि वत्सर त्रिदश निमाले
प्राशूनि काव्यरस मन सारससम धाले।
हरपलें अर्थ सौंदर्य पहाया पुरते
रस सरित्-प्रवाही मानस मारी गोते!

त्या पुन:स्नात देहावर बिन्दु उमे जे,
त्यातून जन्मलें काव्य तोकडे माझे
आढळे न येथे कोमलता, शीतलता
मग असेल कुठुनीं उज्वलता पावनता?

परि भाव एक हा वेडा सतत उराशी
मन शब्दाकारण राही नित्य उपाशी,
ते शब्द धुण्डितो आणि जोडितों कांहीं
त्या म्हणाच "कविता हाही आग्रह नाही।

ही "पंचवटी" नच, केवळ पोपट-पंची,
मैथलीशरण। मज आहे जाण तयाची,
ही असेल "वाकट" ठरेल अथवा कंथा,
नि:शंक होउनि आचरिले या पंथा—।

हे लाभे साहस वर्षाच्या सहवासे,
ते घरा शिरीं वा तुडवा की परिहासे
जे "रत्न" शोभलें "राष्ट्र-भारती" कण्ठी
ते पुढे माण्डिले सजवुनि साज मराठी
"पंचवटी" शोभे मुकुट "भारती" माथा
अपयशांत इथलया केवळ माझा वाटा।

*　　*　　*

"माणकें" हवी तो शोधा "पंचवटीत"
मी केवळ दावीं माय-मराठी घाट।

निवेदन

पंचवटी के सान्निध्य में मेरे तीस वर्ष बीते हैं। जिस प्रकार सारस अपनी मनपसंद झील में आनंदित हो उठता है, वैसा ही पंचवटी से आनंद विभोर होना है।

अनजाने में कोई अर्थसुंदर अंश छूट गया हो तो उसको ढूंढ़ने के लिये मेरा मानस इस पंचवटी काव्य सरिता में बार-बार गोता लगाता है।

डुबकी मारकर ऊपर आते ही शरीर पर जो जलबिंदु चमकने हैं उनसे मेरी इस कविता का जन्म हुआ है वह कुछ अधूरा सा है।

इसमें न तो सरिता की पावनता है न शीलवत्ता। फिर उससे कोमलता और उज्ज्वलता की आशा कैसे की जा सकती है?

फिर भी मन में एक भोला–प्राय: पगले का सा–भाव है जिससे मेरा मन चुने हुए शब्दों का प्यासा रहता है।

वह शब्द खोजकर मैं अपनी रचना में योजता हूँ। उस रचना को आप भले ही कविता न माने, मेरा वह आग्रह भी नहीं है।

मैथिलीशरण जी! यह मेरी कविता 'पंचवटी' नहीं है। यह मात्र एक तोते की रट है यह मैं जानता हूँ।

हो सकता है कि यह एक चिथड़ा भी साबित होगी या कथा भी। फिर अशंक भाव से मैंने यह मार्ग अपनाया है।

यह ढाढँस सालों के संपर्क से निर्मित हुआ है। जो फल सामने हैं वह आप प्यार से अपना लें या धिक्कार से ठुकरा दे।

जो रत्न 'राष्ट्र भारती' के कंठमणि की जर चमक जाया उसी को मराठी जामा पहनाा के सामने रखा है।

'पंचवटी' भारती के माथे का मुकुट है। उस को मराठी में पढ़ते समय जो त्रुटियाँ अपयश होगा वह केवल मेरा है।

आप को यदि सच्ची रत्नों की चाह है तो मूल पढ़िये मैं केवल उस का मराठी ढांचा अंकित कर चुका हूँ।

—श्रीकृष्ण खडपेकर

अनुवादक

पञ्चवटी

(मूल पाठ एवं मराठी अनुवाद)

|| श्री ||

पूर्वाभास

पूज्य पिता के सहज सत्य पर, वार सुधाम, धरा, धन को,
चले राम, सीता भी उनके, पीछे चलीं गहन वन को।
उनके भी पीछे लक्ष्मण थे, कहा राम ने कि "तुम कहाँ?"
विनत वदन से उत्तर पाया—"तुम मेरे सर्वस्व जहाँ।।"

सोती बोली कि "ये पिता की, आज्ञा से सब छोड़ चले,
पर देवर, तुम त्यागी बनकर, क्यों घर से मुहँ मोड़ चले?"
उत्तर मिला कि "आर्य्ये, बरबस, बना न दो मुझको त्यागी,
आर्य-चरण-सेवा में समझो, मुझको भी अपना भागी।।"

"क्या कर्त्तव्य यही है भाई ?" लक्ष्मण ने सिर झुका लिया,
"आर्य आपके प्रति इस जन ने, कब कब क्या कर्त्तव्य किया?"
"प्यार किया है तुमने केवल!" सीता यह कह मुसकाई,
किन्तु राम की उज्ज्वल आँखें, सफल सीप-सी भर आई।।

पूर्वाभास

पूज्य पित्यानें दिधल्या वचना जागुनि त्यागी सुखसदना
राम जातसे वनवासाला, सीता अनुसरि पतिचरणां
तत्पर पाहुनि अनुज लक्ष्मणा पुसति राम तू कुणीकडे ?
विनम्र होउनि वदला लक्ष्मण, "आपण जेथे, मी तिकडे।"

म्हणे मैथिली, "हे तर जाती शिरीं आदरुनि ताताज्ञा,
त्याग भाउजी, तुमचा पाहुनि कुण्ठित होते मम प्रज्ञा–"।
"कसला त्यागी ? उगा चढविशी वहिनी ! श्रेष्ठपदी मजला
रामचरण सेवेत करुनि घे आर्ये। सहभागी असला।"

"हेच काय कर्तव्य **बांधवा** ?" पुसति लक्ष्मणा रघुराया
विनम्र होऊनि सौमित्र वदे "कां --मज लाजवितां वाया ?'
"तुम्ही अर्पिली न काय माया ?" पुसतां वैदेही हसली
प्रेमाश्रूंची तरल मौक्तिकें रामलोचनी तै दिसली।

चारुचन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बरतल में।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से,
मानो झीम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोंकों से।।

पञ्चवटी की छाया में है, सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर, धीर वीर निर्भीकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है ?
भोगी कुसमायुध योगी-सा, बना दृष्टिगत होता है।।

किस व्रत में है व्रती वीर यह, निद्रा का यों त्याग किये,
राजभोग्य के योग्य विपिन में, बैठा आज विराग लिये।
बना हुआ है प्रहरी जिसका, उस कुटीर में क्या धन है,
जिसकी रक्षा में रत इसका, तन है, मन है, जीवन है!

मर्त्यलोक-मालिन्य मेटने, स्वामि-संग जो आई है,
तीन लोक की लक्ष्मी ने यह, कुटी आज अपनाई है।
वीर-वंश की लाज यही है, फिर क्यों वीर न हो प्रहरी,
विजन देश है निशा शेष है, निशाचरी माया ठहरी।।

कोई पास न रहने पर भी, जन-मन मौन नहीं रहता;
आप आपकी सुनता है वह, आप आपसे है कहता।
बीच-बीच मे इधर-उधर निज दृष्टि डालकर मोदमयी,
मन ही मन बातें करता है, धीर धनुर्धर नई नई—

क्या ही स्वच्छ चाँदनी है यह, है क्या ही निस्तब्ध निशा;
है स्वच्छन्द सुमन्द गन्धवह, निरानन्द है कौन दिशा?
बन्द नहीं, अब भी चलते हैं, नियति-नटी के कार्य-कलाप,
पर कितने एकान्त भाव से, कितने शान्त और चुपचाप!

चंद्रकिरण अति सुंदर, चंचल विहरति जणु उन्मुक्त मने,
अवनी आणि नभो-मण्डल हें चिंब जाहले कौमुदिने।
हेलावति वायुने तृणांकुर, मोद धरेचा त्यांत दिसे
मंद स्वर उमटतो तयातुन हृद्‌वीणेंतुनि गान जसे।

छाये-मध्यें वट-वृक्षांच्या आहे विहरत सान कुटी,
जवळ शिलेवर बसला कोणी करुनि धनुर्धर स्थिर भृकुटी।
जगत दंगले निद्राजाळीं, हाच एकटा जागा कां?
रूप पाहता होई संभ्रम अनंग योगी झाला कां?

व्रत वरिलें का याने कुठले? कां निद्रेचा केला त्याग?
तेजस्वी या राजतनूवर कोठुनि आला आज विराग?
काय असें त्या कुटीत आहे ज्याचे हा रक्षण करितो?
पणा लावुनी अवघे जीवन, तन, मन कां अर्पण करितो?

पापनाशना भूलोकींच्या, जी स्वामी संगें आली
जगदंबेच्या अशा निवासे शोभा या कुटिरा आली।
तशांत ती तीर वधू ना? तिच्या रक्षणा वीर हवा,
मध्यरात्रिची भयाण वेला, हा मायावी देश नवा!

जवळ कुणीही असो नसो वा, मनुजाचे मन बसे न मूक
स्वयेंच होई वक्ता–श्रोता, शेजाराची भागवि भूक!
हसरी कटाक्ष-भरली मुद्रा भिर-भिरते इकडे–तिकडे,
मनाशीच बोलता धनुर्धर आनंदाचे पडति सडे!

रम्य कसे विखुरलें चांदणे, किति नीरव झाली रजनी
चहुदिशांत हा मोद कोंदला, गंध पसरितो वायु वनी।
बन्द नसे व्यवहार सृष्टिचा, शांत दिसे सर्वत्र जरीं।
धुंद तरी अति मंदपणाने सृष्टि-देवता कार्य करी।

है बिखेर देती वसुन्धरा, मोती, सबके सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको, सदा सबेरा होने पर।
और विरामदायिनी अपनी, सन्ध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम-तनु जिससे उसका, नया रूप झलकाता है।

सरल तरल जिंन तुहिन कणों से, हँसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे, साथ उन्हींसे रोती है!
अनजानी भूलों पर भी वह, अदय दण्ड तो देती है,
पर बूढ़ों को भी बच्चों-सा, सदय भाव से सेती है।।

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके, पर है मानो कल की बात,
वन को आते देख हमें जब, आर्त्त अचेत हुए थे तात।
अब वह समय निकट ही है जब, अवधि पूर्ण होगी वन की।
किन्तु प्राप्ति होगी इस जन को, इससे बढ़कर किस धन की!

और आर्य को, राज्य-भार तो, वे प्रजार्थ ही धारेंगे,
व्यस्त रहेंगे, हम सब को भी, मानो विवश विसारेंगे!
कर विचार लोकोपकार का, हमें न इससे होगा शोक;
पर अपना हित आप नहीं क्या, कर सकता है यह नरलोक!

मझली माँ ने क्या समझा था, कि मैं राजमाता हूँगी,
निर्वासित कर आर्य राम को, अपनी जड़ें जमा लूँगी।
चित्रकूट में किन्तु उसे ही, देख स्वयं करुणा थकती,
उसे देखते थे सब, वह थी, निज को ही न देख सकती।।

अहो! राजमातृत्व यही था, हुए भरत भी सब त्यागी।
पर सौ सो सम्राटों से भी, हैं सचमुच वे बड़भागी।
एक राज्य का मूढ़ जगत ने, कितना महा मूल्य रक्खा,
हमको तो मानो वन में ही, है विश्वानुकूल रक्खा।।

उधळी निद्राधीन धरेवर विश्वजननि सुंदर मोती।
तया सकाळी घेऊनि रविकर निज कोशांत जमा करिती।
श्यामल आल्हादक रजनीला, रवि अर्पी रत्नें सारी
तेज चढे आगळे आननी, रजनीची खुलतसे कळी।

अमल-तरल दंव-बिन्दु मनोहर दाविति अवनीचा आनंद,
रुपानें अथवा अश्रूंच्या, पाझरती धरणीचे स्पंद।
अजाणतांही प्रमाद होता, निष्ठुर दंण्ड घडेच नरां?
सेवा उमले हृदय मंदिरी, दिसतां शैशव आणि जरा।

"कालचीच जणु वाटे घटना, जरि वर्षे तेरा झाली
वल्कल-धारी पाहुनि आम्हां, मूर्च्छा बाबांना आली।"
हां हां म्हणता सरतिल वर्षे, वनवासहि हा संपेल
अजूनि न कळे, घरी परततां नवधन कुठले लाभेल?

प्रभु संबंधीं काय कथावें, घेतिल स्कंधी राज्यधुरा
जनकल्याणीं रमले असतां विसरतील स्वजनांस जरा।
विसर आमुचा "जन हिताय" हा, जाणुनि होइल कधी न खंत
तरीहि वाटे "प्रजेनेच कां आचरुं नये स्वाश्रय-पन्थ?

स्वप्न रंगवी "मधली आई", राजजननि होण्या पोटी,
कोमल हृदिचें भाव सोडुनी, लागतसे रामा पाठी।
भरत करी धिक्कार जेधवा चित्रकूट पर्वतावरी,
रडवेली जाहली मानिनी। क्षमा न तिजला कुणी करी।

स्वप्न उरींचे तिचे भंगले, भरत मात्र त्यागी झाला
भाग्य थोर केवढे। तयाची साम्राज्याशीं कशी तुला?
उगा करितसे जग मूढापरि राजत्वाचा जयजयकार,
वनांत असतां मनास गमतें, व्यर्थ नव्हे कां हा बडिवार?

होता यदि राजत्व मात्र ही, लक्ष्य हमारे जीवन का,
तो क्यों अपने पूर्वज उसको, छोड़ मार्ग लेते वन का?
परिवर्तन ही यदि उन्नति है, तो हम बढ़ते जाते हैं,
किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे, पूर्व-भाव ही भाते हैं।।

जो हो, जहाँ आर्य रहते हैं, वहीं राज्य वे करते हैं,
उनके शासन में वनचारी, सब स्वच्छन्द विहरते हैं।
रखते हैं सयत्न हम पुर में, जिन्हें पींजरों में कर बन्द;
वे पशु-पक्षी भाभी से हैं, हिले यहाँ स्वयमपि, सानन्द!

करते हैं हम पतित जनों में, बहुधा पशुता का आरोप;
करता है पशु वर्ग किन्तु क्या, निज निसर्ग नियमों का लोप?
मैं मनुष्यता को सुरत्व की, जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी, कभी नहीं सह सकता हूँ।।

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी, यहाँ बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको, पञ्चवटी छाया गहरी।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर, माँ को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिलाकर भी आर्य्या को, वे सब यहाँ रिझाते हैं!

गोदावरी नदी का तट यह, ताल दे रहा है अब भी,
चंचल-जल कल-कल कर मानो, तान दे रहा है अब भी!
नाच रहे हैं अब भी पत्ते, मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललककर, लालच भरे लहकते हैं।।

वैतालिक विहंग भाभी के, सम्प्रति ध्यान लग्न-से हैं,
नये गान की रचना में वे, कवि-कुल तुल्य मग्न-से हैं।
बीच-बीच में नर्तक केकी, मानो यह कह देता है–
मैं तो प्रस्तुत हूँ देखें कल, कौन बड़ाई लेता है।।

राजपदाची इच्छा केवळ असती जर जीवींचा हेत
वानप्रस्थ आचरण्या पूर्वज कां सिहांसन सोडुनि देत?
प्रगतीचा तो मार्ग निराळा, विश्व जातसे नित्य पुढे,
पुरातनाच्या सरलपणावर माझे मन निःशंक जडे।

जेथे प्रभु रामचंद्र बसती, जगत आपुलेसे करिती
वन्य पशूही अति आनंदे त्यांच्या संगे बागडती
पाद-बंधने आणि पिंजरे ज्यांच्या भाळी नगरांत
ते पशुपक्षी वहिनी संगे इथे खुशीनें जगतात।

"तू आहेस पशु रे केवळ!" आम्ही वदतो पतिताला,
निसर्ग सोडुनि कधी वागतां आहे कां पशु आढळला?
असेल **देवत्वाचा** अंकुर कधी कुंठें नर-हृदयात
पतिताला पशु म्हणणें हा तर निसर्गावरी आघात।

मध्यान्हीच्या रविकिरणांनी तप्त जीव येती येथे
प्रेमे ओथंबुनि वहिनी त्या मायेची साउलि देते।
तिच्या करीचे कवळ खाउनी, धरती फेर तिच्या भंवती
लोल-लोचना जननी रूपा वैदेहीस सुखी करिती!

तालबद्ध ही तटिनी गोदा जलभारे अजुनी वाहे
तटस्पर्शाने झाला कलरव भवताली नादत राहे
वृक्षलता ही अजून फुलती, गंध तयांचा दरवळतो
आणि रोहिणी दूर सरकतां, अजुनि चंद्रमा हळहळतो

वहिनीचे स्तुति-पाठक पक्षी नीरव आणिक शांत कसे?
वाल्मीकि-प्रतिमेने अथवा यांनाही लाविले पिसे?
मधें पिसारुनि रम्य पिसारा, नीलकंठ ग्वाही देतो,
"श्रेष्ठ असे मी इथें आजवर, पाहू कोण उद्यां येतो?"

आँखों के आगे हरियाली, रहती है हर घड़ी यहाँ,
जहाँ तहाँ झाड़ी में झिरती, है झरनों की झड़ी यहाँ।
वन की एक एक हिमकणिका, जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ-सौ नागरिक जनों की, वैसी विमल रम्य रुचि है?

मुनियों का सत्संग यहाँ है, जिन्हें हुआ है तत्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे, नित्य नये अनुपम आख्यान।
जितने कष्ट-कण्टकों में है, जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव गन्ध उन्हें उतना ही, अत्र तत्र सर्वत्र मिला।

शुभ सिद्धान्त वाक्य पढ़ते हैं, शुक-सारी भी आश्रम के,
मुनि कन्याएँ यश गाती हैं, क्या ही पुण्य-पराक्रम के।
अहा! आर्य्य के विपिन राज्य में, सुखपूर्वक सब जीते हैं,
सिंह और मृग एक घाट पर, आकर पानी पीते हैं।

गुह, निषाद, शवरों तक का मन, रखते हैं प्रभु कानन में,
क्या ही सरल वचन रहते हैं, इनके भोले आनन में!
इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी,
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी।।

कभी विपिन में हमें व्यंजन का, पड़ता नहीं प्रयोजन है,
निर्मल जल मधु कन्द, मूल, फल—आयोजनमय भोजन है।
मनःप्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर फिर क्या प्रसाद?
भाभी का आह्लाद अतुल है, मझली माँ का विपुल विषाद!

अपने पौधों में जब भाभी, भर-भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निरातीं, जब वे अपनी खेती हैं,
पाती हैं तब कितना गौरव, कितना सुख, कितना सन्तोष!
स्वावलम्ब की एक झलक पर, न्योछावर कुबेर का कोष।।

हिरवे-हिरवे गार गालिचे सभोंवार हे आंथरले,
सरितेच्या कल-कल नादाने गीत-स्वरांना लाजविले,
दंव-बिन्दूचे तेज आगळे, शुचिता त्यांची शब्दातीत,
मिळेल कां ते "तसले मानस", धुंडुनि भविष्य आणि अतीत?

वनांत निशिदिन आम्हा घडतो, जीवनज्ञानी-मुनिजन संग,
जीवन-पुष्प तयाने विकसित, तयात भरले बहुविध रंग!
कंटक भरल्या दुस्तर जागी जी फुलती जीवन-सुमने
गौरव सौरभ पसरे त्यांचा चतुर्दिशांना मुक्त मने!

ऋषिवचने वेदान्ते भरलीं, वदती इथल्या शुक मैना,
पुण्य पौरुषे भरलीं स्तोत्रें गाती येथिल मुनिकन्या,
वनराज्यीं या रघुरायाच्या जीव वैर त्यागुनि देती,
सिंह-शावके हरिणीसंगे येथे जलपाना येती!

गुह, निषाद आणिक शब्बरांशी, दादा स्नेहें आचरती,
सरल निरागस त्या जीवांचे बोल तयांना आवडती
"नीच" अशांना समाज म्हणतो, तेही असती परि प्राणी
त्यांनाही असतात भावना, असते मन, नसते वाणी!

कधीं न पडली वनांत आम्हा व्यजनाची आवश्यकता,
निर्मल जल, फल-मूल खाउनी रसना झाली तृप्त अतां।
मनमयूर हा प्रसन्न असतां, हर्म्य कुटीत न भेद तया,
वैदेही वनि सुखांत नांदे। भरत जननीची येत दया।

निज हाती रोपिल्या तरूंना वहिनी जैं पाणी शिंपी,
तया तळींचे रान माजले, खुरपीने अथवा कापी,
स्वावलंबनी समाधान जे दिसे जानकी-मुखावरी,
कुबेर कोशहि उणाच वाटे करण्या त्याची बरोबरी!

सांसारिकता में मिलती है, यहाँ निराली निस्पृहता,
अत्रि और अनसूया की-सी होगी कहाँ पुण्य-गृहता!
मानो है यह भुवन भिन्न ही, कृत्रिमता का काम नहीं;
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी, कहीं विकृति का नाम नहीं।।

स्वजनों की चिन्ता है हमको, होगा उन्हें हमारा सोच,
यही एक इस विपिन-वास में, दोनों ओर रहा संकोच।
सब सह सकता है, परोक्ष ही, कभी नहीं सह सकता प्रेम,
बस, प्रत्यक्ष भाव में उसका, रक्षित-सा रहता है क्षेम।।

इच्छा होती है स्वजनों को, एक बार वन ले आऊँ,
और यहाँ की अनुपम महिमा, उन्हें घुमाकर दिखलाऊँ।
विस्मित होंगे देख आर्य्य को, वे घर की ही भाँति प्रसन्न,
मानो वन-विहार में रत हैं, वे वैसे ही श्रीसम्पन्न।।

यदि बाधाएँ हुईं हमें तो, उन बाधाओं के ही साथ,
जिससे बाधा-बोध न हो, वह सहनशक्ति भी आई हाथ।
जब बाधाएँ न भी रहेंगी, तब भी शक्ति रहेगी यह,
पुर में जाने पर भी वन की, स्मृति अनुरक्ति रहेगी यह।।

नहीं जानती हाय! हमारी, माताएँ आमोद-प्रमोद,
मिली हमें है कितनी कोमल, कितनी बड़ी प्रकृति की गोद।
इसी खेल को कहते हैं क्या, विद्वज्जन जीवन-संग्राम?
तो इसमें सुनाम कर लेना, है कितना साधारण काम!

"बेचारी ऊर्मिला हमारे, लिए व्यर्थ रोती होगी,
क्या जाने वह, हम सब वन में, होंगे इतने सुख-भोग!"
मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम, नेत्र निमीलित एक निमेष,
फिर आँखें खोलें तो यह क्या, अनुपम रूप, अलौकिक वेश!

निस्पृह सारा आसमन्त हा, आगळयाच इथल्या रीती
अत्रि आणि अनसूया यांची आम्हावर जडली प्रीति!
शुद्ध सरल हे विश्व निराळे कृत्रिमता नांवा न मिळे
सृष्टि-सतीला बघुनि आसनी, विकृति येथुनि दूर पळे।

चिन्ता आमुची पाठ न सोडी, आप्तांनाही तिचाच ताप
हाच एक नडला सर्वांना, वनवासी जीवनांत शाप।
माया वेडी। चिंतित होई किंचित सरतां "प्रेयस्" दूर
तेच उभे प्रत्यक्ष पाहतां, मृदु भावांचा वाहे पूर।

फार वाटतें, वनांत साऱ्या स्वजनांना घेऊनि धावें,
आणि येथले अपार, वैभव नीट हिंडुनी दावावें।
विस्मित होतिल प्रभूस पाहुनि घरच्या परि येथेहि सुखांत
वनांत अथवा जनांत राहो, वैभव प्रभुना देते साथ।

आम्ही भोगिली अनन्त दु:खे, परंतु त्या दु:खांसंगे,
सहन शक्तिचे बल दुणावले, जीवन भरले रस-रंगे।
घरी परततां नसतिल दु:खे, बळ हे मात्र स्थिरावेल,
प्रासादांतुनि वावरताना, वन-स्मृतींत मन धावेल।

नसेल कोणा घरी कल्पना "कर जोडुनि सुख उभे इथे",
सृष्टि-देवता प्रसन्न होतां स्वर्ग सौख्य तिजपुढे थिटे।
"जीवन संगर" हाच काय तो वर्णियला नित सुजनांनी?
कृतार्थ होइल अशा संगरी, मज सम कोणीही प्राणी।

आणि प्रेमला सखी उर्मिला, चितांतुर किति बरे असेल
आम्ही येथे सुखी असूं ही तिला कल्पना मुळी नसेल।
सहज लोचनें मिटली पळभर, लक्ष्मण झाले सखीत दंग,
नेत्र पुन: उघडतां पाहिले, कुणी उधळतां यौवन रंग।

चकाचौंध-सी लगी देखकर, प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,
निस्संकोच, खड़ी थी सम्मुख, एक हास्यवदनी बाला!
रत्नाभरण भरे अंगों में, ऐसे सुन्दर लगते थे–
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ सौ, जुगनूँ जगमग जगते थे!

थी अत्यन्त अतृप्त वासना, दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा, मानो छवि से छलक रही।
किन्तु दृष्टि थी जिसे खोजती, मानो उसे पा चुकी थी,
भूली-भटकी मृगी अन्त में अपनी ठौर आ चुकी थी।।

कटि के नीचे चिकुर-जाल में, उलझ रहा था बायाँ हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से, लोल कमल भौंरों के साथ।
दायाँ हाथ लिए था सुरभित–चित्र-विचित्र-सुमन-माला,
टाँगा धनुष कि कल्पलता पर, मनसिज ने झूला डाला!

पर सन्देह-दोल पर ही था, लक्ष्मण का मन झूल रहा,
भटक भावनाओं के भ्रम में, भीतर ही था भूल रहा।
पड़े विचार-चक्र में थे वे, कहाँ न जाने कूल रहा;
आज जागरित-स्वप्न-शाल यह, सम्मुख कैसा फूल रहा!

देख उन्हें विस्मित विशेष वह, सुस्मितवदनी ही बोली–
(रमणी की मूरत मनोज्ञ थी, किन्तु न थी सूरत भोली)
"शूरवीर होकर अबला को, देख सुभग, तुम थकित हुए;
संसृति की स्वाभाविकता पर, चंचल होकर चकित हुए!

प्रथम बोलना पड़ा मुझे ही, पूछी तुमने बात नहीं,
इससे पुरुषों की निर्ममता, होती क्या प्रतिभास नहीं?"
सँभल गये थे अब तक लक्ष्मण, वे थोड़े से मुसकाये,
उत्तर देते हुए उसे फिर, निज गम्भीर भाव लाये–

दिपले लोचन पाहुनि सन्मुख, प्रखर तीव्रतर दीप-शिखा,
निस्संकोच उभी सामोरी, स्मितवदना न्याहळित मुखा।
मुसमुसल्या युवती देहावर रत्नाभरण असे गमले,
पुष्पे नटल्या वेलीवरती खद्‌योत जणू चमचमले।

तिच्या दीर्घ, लोचनी वासना, पदोपदी ठिबकत होती,
देहांतील कमलांचा सौरभ बदलित होता भ्रमर गती।
वांछित जें धुंडित होती ती, प्राप्त तिला झाले, दिसले,
वणवण हिंडुनि मन हरिणीयं तृप्त इथे होउनि बसले।

कटिच्या खाली कुन्तल जाळी दिसमत्तां डावा हलता हातं,
गुञ्जन कम्पित **मुदित** पद्म जणु क्रीडत्त करि भ्रमरांची साथ!
उजव्या हाती होती गांधिन चित्रविचित्र सुमनमाला
कल्पलतेवर जसा टांगिला मदनाने निज झोपाळा!

आशंकेच्या हिंदोळयावर आंदोलत लक्ष्मण होतां,
भ्रमनिरासही झाला नव्हता, शान्त-भाव आला नव्हता,
विचार आवर्तनी भिरभिरे, नव्हता दिसत कुठेही तीर
कल्पतरुचा बघुनि फुलोरा बुचकळयांत हा पडला वीर।

विस्मयांत त्या बुडतां पाहुनि स्मिताननना त्याला वदली
जराहि भोळी नव्हती प्रमदा, रूप जणूं फुलली कदली।
"शूर वीर ना तुम्ही नरवरा। नारी पाहुनि गांगरला?
निसर्गातले रूप सहज जे, ते दिसतां कां बुचळलां?

तुम्ही न पुशिलें मजला काही, म्हणुनि बोलणे पडलें भाग
जातच ही पुरुषांची निर्मम। ललना तरिही धरी अनुराग"
होता सावरला रामानुज, स्मित मोहक त्याने वरिले,
हांसत हांसत देतां उत्तर निश्चल सूत्र करी धरिले।

"सुन्दरी, मैं सचमुच विस्मित हूँ, तुमको सहसा देख यहाँ,
ढलती रात, अकेली अबला, निकल पड़ी तुम कौन कहाँ ?
पर अबला कहकर अपने को, तुम प्रगल्भता रखती हो,
निर्ममता निरीह पुरुषों में, निस्सन्देह निरखती हो!

पर मैं ही यदि परनारी से, पहले सम्भाषण करता,
तो छिन जाती आज कदाचित् पुरुषों की सुधर्मपरता।
जो हो, पर मेरे बारे में, बात तुम्हारी सच्ची है,
चण्डि, क्या कहूँ, तुमसे, मेरी, ममता कितनी कच्ची है।।

माता, पिता और पत्नी की, धन की, धरा-धाम की भी,
मुझे न कुछ भी ममता व्यापी, जीवन परम्परा की भी,
एक-किन्तु उन बातों से क्या, फिर भी हूँ मैं परम सुखी,
ममता तो महिलाओं में ही, होती है हे मंजुमुखी।।

शूरवीर कहकर भी मुझको, तुम जो भीरु बताती हो,
इससे सूक्ष्मदर्शिता ही तुम, अपनी मुझे जताती हो?
भाषण-भंगी देख तुम्हारी, हाँ, मुझको भय होता है,
प्रमदे, तुम्हें देख वन में यों, मन में संशय होता है।।

कहूँ मानवी यदि मैं तुमको, तो वैसा संकोच कहाँ ?
कहूँ दानवी तो उसमें है, यह लावण्य कि लोच कहाँ ?
वनदेवी समझूँ तो वह तो, होती है भोली-भाली,
तुम्हीं बताओ कि तुम कौन हो, हे रंजित रहस्यवाली ?"

"केवल इतना कि तुम कौन हो", बोली वह–"हा निष्ठुर कान्त!"
यह भी नहीं–"चाहती हो क्या, कैसे हो मेरा मन शान्त ?"
"मुझे जान पड़ता है तुमसे, आज छली जाऊँगी मैं;
किन्तु आ गई हूँ जब तब क्या, सहज चली जाऊँगी मैं

आणिक वदला–"विस्मित झालो तुजला पाहुनि या जागीं।
त्यात एकटी। वेळ ही अशी! आलीस कशी या मार्गी?
पुनः म्हणविशी स्वतः स अबला। निरीक्षण तुझें किती सखोल?
निरीच्छ नर हे निर्मम असती। निस्संदेह खरे तव बोल।

प्रथम मीच जर वदलों असतो नच उरता परनारी मान
धर्मपरायण भावांची मग झाली असती ओढ़ाताण!
असो कसेही–, माइया विषयी शब्द तुझे आहेत खरे,
शबल प्रीतिचे भाव, चण्डिके! तुज समजावू कसे बरें?

बांधू न शकले प्रेम पाश मज, पितरांचे वा पत्नीचे,
धन, यौवन अथवा सिंहासन लव ना मूल्य मला त्यांचे।
एक गोष्ट–, छे नको। राहुदे। मी तरि आहे परमसुखी
ममता अति शोभुनियां दिसते ललना-हृदयी, इंदुमुखी।"

"शूरवीर संबोधुनि मजला, भीरुताच मम दाखविसी,
बोल असे उपहास-गर्भ हे वदती तू भोळी नसशी।
खोंच तुझ्या भाषणांत बघतां भीति रिघे ही मदंतरी
तुला अशी ही वनी निरखितां केवळ शंका उठे उरी।

निस्संकोच तुझी ही वृत्ती नारी-सुलभ नसे काहीं।
कसा म्हणूं मी निशाचरी तुज, रूप अलौकिक तव बाई
वन देवीची रीतच न्यारी, ती असते साधीभोळी
तूच सांग "तू कोण असशि तें", बुद्धि-यातना तरि टाळी।"

"हाय कान्त। हा अर्ध प्रश्न कां विचारला" तू कोण असा?
"काय वांछिसी?" असे न पुसतां जीव व्हायचा शांत कसा?
शकुन नसावा घडला सुन्दर, टाळाटाळी म्हणुन अशी
तुम्ही करितसां, मी न जायची विन्मुख होउनि परत तशी।

समझो मुझे अतिथि ही अपना, कुछ आतिथ्य मिलेगा क्या?
पत्थर पिघले, किन्तु तुम्हारा, तब भी हृदय हिलेगा क्या?"
किया अधर-दंशन रमणी ने, लक्ष्मण फिर भी मुसकाये,
मुसकाकर ही बोले उससे–"हे शुभ मूर्तिमती माये!

तुम अनुपम ऐश्वर्य्यवती हो, एक अकिंचन जन हूँ मैं;
क्या आतिथ्य करूँ, लज्जित हूँ, वन-वासी, निर्धन हूँ मैं।"
रमणी ने फिर कहा कि "मैंने, भाव तुम्हारा जान लिया,
जो धन तुम्हें दिया है विधि ने, देवों को भी नहीं दिया!

किन्तु विराग भाव धारणकर, बने स्वयं यदि तुम त्यागी,
तो ये रत्नाभरण वार दूँ, तुम पर मैं हे बड़भागी!
धारण करूँ योग तुम-सा ही, भोग-लालसा के कारण,
पर कर सकती हूँ मैं यों ही, विपुल-विघ्न-बाधा वारण।।

इस व्रत में किस इच्छा से तुम, व्रती हुए हो, बतलाओ?
मुझमें वह सामर्थ्य है कि तुम, जो चाहो सो सब पाओ।
धन की इच्छा हो तुमको तो, सोने का मेरा भू-भाग,
शासक, भूप बनो तुम उसके, त्यागो यह अंति विषम विराग।।

और किसी दुर्जय वैरी से, लेना है तुमको प्रतिशोध,
तो आज्ञा दो, उसे जला दे, कालानल-सा मेरा क्रोध।
प्रेम-पिपासु किसी कान्ता के, तपस्कूप यदि खनते हो,
सचमुच ही तुम भोले हो, क्यों मन को यों हनते हो?

अरे, कौन है, वार न देगी, जो इस यौवन-धन पर प्राण?
खाओ इसे न यों ही हा हा, करो यत्न से इसका त्राण।
किसी हेतु संसार भार-सा, देता हो यदि तुमको ग्लानि,
तो अब मेरे साथ उसे तुम, एक और अवसर दो दानि!"

पाहुणीच मजला समजा ना, अतिथि-धर्म आठवा जरा,
पाषाणहि असतां पाझरला, तुम्हा न ये कां कींव जरा ?
लज्जित झाली किंचित् रमणी, किंचित् रामानुज हसले
स्मित ओठीं आळविता वदले "हे सुभगे। मायाविनि। कुशले।

दिसशी तू ऐश्वर्य शालिनी, मी तर निष्कांचन आहे,
लाजविसी कां आतिथ्यास्तव ? वनवासांत जमेना हे।"
"कळतात बरें अशी बोलणी, कळले मन मजला तुमचे,
जो धन दैवे तुम्हास दिधले, वर्णाया अपुरीच वचें।

परंतु घेऊनी वैराग्याचा केतु तुम्ही बनला त्यागी
तुम्हा कारणें ही आभरणे भार वाटती मजलागी,
योगिनि मी होते तुम्हास्तव, भोगलालसा करा पुरी।
नलगे हे ही परंतु करण्या, असता सिद्धि उभ्यादारी।

तृप्त कराया कुठल्यां इच्छा व्रत हें आचरिले सांगा ?
वय कां तुमचे व्रत करण्याचें ? काय हवे ते मज मागा।
तुम्हा हवी कां विपुल संपदा ? स्वर्णद्वीप माझे आहे,
बना तुम्ही भूपाल तयाचे। वैराग्य लवहि ना मज साहे।

अथवा कुण्या रिपूला शासन करण्या मानस इच्छितसे,
सांगा। क्षणांत जाळिन त्याला दावाग्नीयधि काष्ठ जसें।
कुणा मानिनीच्या प्रेमास्तव असेल हा जरि कां व्यवहार ?
भोळे सांब कसे हो तुम्ही ? द्या सोडुनि हे वेडेचार।

कोण अशी तू कुलटा नारी, यौवन हे न जिला मोही ?
तिच्या कारणें असला त्रागा आणि तुम्हा शोभत नाही।
कुठल्या असल्या क्षुद्र कारणें निस्संग असे कां बनला ?
अपूर्व जीवन-रस, मी अर्पिन, संधि मला मिळतांच जरा।

लक्ष्मण फिर गम्भीर हो गये, बोले–"धन्यवाद धन्ये!
ललना सुलभ सहानुभूति है, निश्चय तुममें नृपकन्ये!
साधारण रमणी कर सकती, है ऐसे प्रस्ताव कहीं?
पर मैं तुमसे सच कहता हूँ कोई मुझे अभाव नहीं॥'

"तो फिर क्या निष्काम तपस्या, करते हो तुम इस वय में?
पर क्या पाप न होगा तुमको, आश्रम के धर्म्मक्षय में?
मान लो कि वह न हो, किन्तु इस, तप का फल तो होगा ही,
फिर वह स्वयं प्राप्त भी तुमसे, क्या न जायगा भोगा ही?

वृक्ष लगाने की ही इच्छा, कितने ही जन रखते हैं,
पर उनमें जो फल लगते हैं, क्या वे उन्हें न चखते हैं?"
लक्ष्मण अब हँस पड़े और यों, कहने लगे–"दुहाई है!
सेंतमेंत की तापस पदवी, मैंने तुमसे पाई है॥

यों ही यदि तप का फल पाऊँ, तो मैं इसे न चक्खूँगा,
तुमसे जन के लिए यत्न से, उसको रक्षित रक्खूँगा।"
हँसी सुन्दरी भी, फिर बोली–"यदि वह फल मैं ही होऊँ,
तो क्या करो, बताओ? बस अब, क्यों अमूल्य अवसर खोऊँ?"

"तो मैं योग्य पात्र खोजूँगा, सहज परन्तु नहीं यह काम,"
"मैंने खोज लिया है उसको, यद्यपि नहीं जानती नाम।
फिर भी वह मेरे समक्ष है, चौंके लक्ष्मण, बोले-कौन?
केवल "तुम" कहकर रमणी भी, हुई तनिक लज्जित हो मौन॥

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूँ बाले!"
"पर क्या पुरुष नहीं होते हैं, दो-दो दाराओं वाले?
नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन, हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ, पहले ही कर बैठे नर!"

गंभीरपणे वदले लक्ष्मण "आभार कसे तव मानूं?
सहृदयता जी तुवा दाविली, तिजला मी कैसे वानू?
नृपकन्या तू! म्हणुनि आभिषे असली मजला दाखविसी।
ललने! मज ना अभाव कुठला सिद्ध करु ही गोष्ट कशी?"

"उगाच मग हे काय तप सरव्या। आचरिलें या वयामधे?
पाप न घडणार कां अशानें चुकता आश्रमधर्म-पदें?
समजा, घडलें जरी न पातक, या तपास फल येईल।
पदरी पडतां भोग तयाचा कोण तुम्हाविण घेईल?

वृक्ष रोपिती छायेसाठी अगणित, जगती महानुभाव
ते फलभारे झुकले पाहुनि, सोडिल काय न रसना ठाव?"
रोखु न शकले स्मित रामानुज, वदले धन्य। तुझे उपकार
विनायास अर्पिले मला तूं तापस—पद जे दुर्मिळ फार।

तपास फळ जर आले माझ्या, स्पर्शन मज त्याचा घडणार।
तुझ्या सारख्या शुभाननेच्या, पदरी तें निश्चित पडणार
रमणीमुख उलळून निघाले, वदली "फळ जर असले मी?
चला। उठा। मजला स्वीकारा। झडकरि लावुनि द्या कामी।"

"फला कारणे योग्य पात्र मी शोधिन, परि हे काम अफाट।"
"पात्र धुण्डिले मीच फलास्तव। नांव न ठाउक, रुचला घाट।
सुघड पात्र मजसमोर दिसते। पुसती लक्ष्मण" कोण बरे?"
ललना बोले लाजुनि, "आपण।" मौन तिच्या वदनी उतरे।

"शांतम् पापम्! पाप शांत हो। परिणत मी आहे बाले।"
"दोन स्त्रियांचे स्वामी-जगती नव्हते कां पूर्वी झाले?
पुरुषे निर्मित शास्त्र-बंधने, असती सारी स्त्री-साठी
भोगुनिया स्वतंत्र्य अहर्निश, धर्म सुचे भरल्या पोटी।"

तो नारियाँ शास्त्र रचना पर, क्या बहु पति का करें विधान?
पर उनके सतीत्व-गौरव का, करते हैं नर ही गुणगान।
मेरे मत में एक ओर हैं, शास्त्रों की विधियाँ सारी,
अपना अन्तःकरण आप है, आचारों का सुविचारी॥

नारी के जिस भव्य-भाव का, साभिमान भाषी हूँ मैं,
उसे नरों में भी पाने का, उत्सुक अभिलाषी हूँ मैं।
बहुविवाह-विभ्राट, क्या कहूँ, भद्रे, मुझको क्षमा करो;
तुम कुशला हो, किसी कृती को, करो कहीं कृतकृत्य, वरो।"

"पर किस मन से वरूँ किसी को? वह तो तुम से हरा गया!"
"चोरी का अपराध और भी, लो यह मुझ पर धरा गया?"
"झूठा?" प्रश्न किया प्रमदा ने, और कहा–"मेरा मन हाय!
निकल गया है मेरे कर से, होकर विवश, विकल, निरुपाय!

कह सकते हो तुम कि चन्द्र का, कौन दोष जो ठगा चकोर?
किन्तु कलाधर ने डाला है, किरण-जाल क्यों उसकी ओर?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो, जलता कैसे कूद पतंग?
वाद्य-मुग्ध करके ही फिर क्या, व्याध पकड़ता नहीं कुरंग?

लेकर इतना रूप कहो तुम, दीख पड़े क्यों मुझे छली?
चले प्रभात वात फिर भी क्या, खिले न कोमल कमल-कली?"
कहने लगे सुलक्षण लक्ष्मण–"हे विलक्षणे, ठहरो तुम;
पवनाधीन पताका-सी यों, जिधर-तिधर मत फहरो तुम।

जिसकी रूप-स्तुति करती हो, तुम आवेग युक्त इतनी,
उसके शील और कुल की भी, अवगति है तुमको कितनी?"
उत्तर देती हुई कामिनी, बोली अंग शिथिल करके–
"हे नर, यह क्या पूछ रहे हो, अब तुम हाय! हृदय हरके?

"ललना-निर्मित धर्मसिंधुने सुचवितेस कां बहुपति-संग?
स्तोत्र गायनी सती गुणांच्या पुरुषांचे तर मोठे अंग।"
अगणित सूत्रें यम नियमांची धर्म-कोश जरि भूषविती
स्वयेच जे आचरिती संयम, ठाके धर्म तयांपुढती।

स्त्री ठायी जे भाव दिसावे साभिमान करण्या पूजा,
नरांतही ते तसे वसावे, निश्चलता अन् जन लज्जा।
काय म्हणूं तुज उन्मन प्रमदे। क्षमा करी तू मला तरी
वीर नरोत्तम दुजा शोधुनी धन्य तया जीवनी करी।"

"माळ कशी ही दुजास अर्पू? चित हरण आपण केलें।
"न्याय कसा हा? सहज बोलतां तस्करपण माथी आलें।
"काय असे मी खोटे वदले, तुम्हीच ते ठरवा आतां
वृथाच चोरुनि माझे मन का कष्ट वृथा मजला देता?"

चंद्रकिरण उतरतां महीवर वेडा होउनि जाय चकोर,
किरण-जाल लावून बैसला म्हणुनि ठरे हा चंद्रच चोर।
दिसती ना ज्योतच दीपाची पतंग कां आहुति देता?
विद्ध न हरिणी कधीच होती व्याध सूर ना आळविता।

रूप असें मदनासम तुमचें सांगा कां मजला दिसलें?
प्रभात-वायुस्पर्श लाभतां कलिकांची ह्रयाची फुलें।
काय यांत चुकले ते दावा?" ऐकुनि प्रश्नतिचा, वदला
"शीड फाटल्या नावेपरि तूं उघळुं नको सैरावैरा।

रुपावर भाळलीस माझ्या, कुल-विचार केलास किती?
शीलाचार बिना पुसतां का अशी कुठें नाती जमती?
होतीं अंगे प्रश्न विचारित, तोल तिला नव्हता उरला
"हृदय चोरिलें सख्या। कधीचे, शोभे प्रश्न आतां असला?

अपना ही कुल-शील प्रेम में, पड़कर नहीं देखतीं हम,
प्रेम-पात्र का क्या देखेंगी, प्रिय हैं जिसे लेखतीं हम?
रात बीतने पर है अब तो, मीठे बोल बोल दो तुम;
प्रेमातिथी है खड़ा द्वार पर, हृदय-कपाट खोल दो तुम।"

"हा नारी! किस भ्रम में है तू, प्रेम नहीं यह तो है मोह;
आत्मा का विश्वास नहीं यह, है तेरे मन का विद्रोह!
विष से भरी वासना है यह, सुधा-पूर्ण वह प्रीति नहीं;
रीति नहीं, अनरीति और यह, अति अनीति है, नीति नहीं॥

आत्म-वंचना करती है तू, किस प्रतीति के धोखे से;
झाँक न झंझा के झोंके में, झुककर खुले झरोखे से!
शान्ति नहीं देगी तुझको यह, मृगतृष्णा करती है क्रान्ति,
सावधान हो मैं पर नर हूँ, छोड़ भावना की यह भ्रान्ति॥"

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग।
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ, प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर, खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!

अहा! अम्बरस्था ऊषा भी, इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की-सी मूर्ति न थी।
वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर, गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुँह पर भी लज्जा, लेने लगी अपूर्व हिलोर॥

चौंक पड़ी प्रमदा भी सहसा, देख सामने सीता को,
कुमुद्वती-सी दबी देख वह, उस पद्मिनी पुनीता को।
एक बार ऊषा की आभा, देखी उसने अम्बर में,
एक बार सीता की शोभा, देखी बिगताडम्बर में।

प्रीति अंगणी खेळत असतां कशी उरावी शीलस्मृती?
हवी कशा व्यवहार बोचणी सखयाची वांछिता मिठी?
सरत चालली निशा, पुरे ना चर्चा, गोड वदा काही
दारी केंव्हाची अवघडले ध्यां मिठींत मज लवलाही।"

"प्रमदे हाय! तुझा भ्रम सारा, हा केवळ आहे व्यामोह
तुज हृदयी टोंचेल अहर्निश मागाहुनि हा क्षण-विद्रोह
प्रबल तुझी ही भोग-लालसा, प्रेम तया समजूच कसे?
कुलक्षेम यात ना कुठेही, अनीतिचे नांदते पिसे।

वृथाच करिसी आत्मवंचना केंव्हांपासुन प्रितिमिशें,
लिप्सेच्या गर्तेतुनि आता, तुज उद्धारिल कोण? कसें?
मृगजळ पीता शमे न तृष्णा, मूर्च्छा तीव्र परी येते
हे जाणुनिया सोड वसना, मनोवारु घे आवरतें।

हे बोलुनि सौमित्र थांबतां, जाग दिशांना लव आली,
स्पर्शुनि जाता किरण शलाका तम-वसतें विरली काळीं,
दिसूं लागली स्वर्णिम लालिम कोमल पूर्वेची अंगे,
दार अचानक उघडित कोणी कुटी शोभवी निजरंगे।

स्वर्गीची जणु ऊषा उतरे त्या रूपें अवनीवरती,
रूप तिचे तें सजीव, उज्वल, ऊषा केवळ जडमूर्ती
तेज करी निस्तेज चंद्रमा, अस्तगिरी वर तोहि दडे
सौमित्र मुखीं पाहुनि लज्जा वैदेहीला प्रश्न पडे।

सरोवरी कमलिनी उमलतां, कुमुद-पुंज निर्जीव ठरे,
भूमिसुतेच्या विमल दर्शने प्रमदेचाही गर्व हरे।
रूप अनघ ऊषेचे दिसलें पूर्वेला रमणीस, अपार,
अनलंकृत जानकीस बघतां आली आश्चर्यास किनार।

एक बार अपने अंगों की, ओर दृष्टि उसने डाली,
उलझ गई वह किन्तु,—बीच में, थी विभूषणों की जाली।
एक वार फिर वैदेही के, देखे अंग अदूषण वे,
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे—रखते थे शुभ भूषण वे॥

हँसने लगे कुसुम कानन के, देख चित्र-सा एक महान,
विकच उठीं कलियाँ डालों में, निरख मैथिली की मुसकान॥
कौन कौन से फूल खिले हैं, उन्हें गिनाने लगा समीर,
एक एक कर गुन गुन करके, जुड़ आई भौंरों की भीर॥

नाटक के इस नये दृश्य के, दर्शक थे द्विज लोग वहाँ,
करते थे शाखासनस्थ वे, समधुप रस का भोग वहाँ।
झट अभिनयारम्भ करने को, कोलाहल भी करते थे,
पञ्चवटी की रंगभूमि को, प्रिय भावों से भरते थे॥

सीता ने भी उस रमणी को, देखा लक्ष्मण को देखा,
फिर दोनों के बीच खींच दी, एक अपूर्व हास्य-रेखा।
"देवर, तुम कैसे निर्दय हो, घर आये जन का अपमान,
किसके पर-नर तुम, उसके जो, चाहे तुमको प्राण-समान?

याचक को निराश करने में, हो सकती है लाचारी,
किन्तु नहीं आई है आश्रय, लेने को यह सुकुमारी।
देने ही आई है तुमको, निज सर्वस्व बिना संकोच,
देने में कार्पण्य तुम्हें हो, तो लेने में क्या है सोच?"

उनके अरुण चरण-पद्मों में, झुक लक्ष्मण ने किया प्रणाम,
आशीर्वाद दिया सीता ने—"हों सब सफल तुम्हारे काम!"
और कहा—"सब बातें मैंने, सुनी नहीं तुम रखना याद;
कब से चलता है बोलो यह, नूतन शुक-रम्भा-संवाद?"

सहज पहाया निजरुपातें प्रमदा दृष्टि वळे खाली
मुळीं न तिजला स्वरूप दिसतें, दिसली आभूषण जाळी।
रूपावर सीतेच्या, ललना पुनरपि स्थिर-नयना झाली
सनक्षत्र अरुणोदय दिसला, पाहुनि दृष्टि तिची झाली।

वनी विलोकुनि नवीच स्पर्धा, वन-पुष्पें पुलकित झाली
पाहुनि वैदेही-स्मित कलिका, फुलल्या, सजल्या तरुवेलीं
कोठुनि कुठला सुंगध येतो, धुंडी मंद समीरण तो
होउनि मधुगंधाने मोहित गुंजारव भ्रमरां सुचतो+-

दिसतां नाट्य नवें घडतांना, द्विजवर, तरु शाखी जमले,
रसग्रहण नाटयाचें करणें त्यांना एकमतें गमले।
कूजन कोलाहल गरजविती "कार्यारंभ करा" म्हणुनी
पंचवटीच्या रंगभूमिवर नवरस ओसंडुनि भरुनी।

ललनेचे मुख पाहुनि क्षणभर, नेत्र दिरावर स्थिरावले,
ओष्ठ संपुटी खट्याळ हासूं लेवुनि, सीता-मुख वदले-
"**प्राणाधिक** जी तुम्हा मानिते, कां अवमान तिचा करिता ?
अतिथि-धर्म हा नव्हे भाउजी! बरी नसे ही निर्दयता।

याचका जावो कधी न विन्मुख वंद्य असे आदेश जरी,
मला वाटतें नव्हती आली बनुनी याचक सुकुमारी।
दान कराया सर्वस्वाचे ही रमणी आतुर झाली
आता तरी कृपणता सोडा। पुरे न कां चर्चा झाली ?"

कमलासम पाउलें वंदिण्या, क्षण रामानुज नत झाले,
"होवोत पु-या मनोकामना।" शब्द असे कानी आले,
"मी न एकिले अजून पुरते, सांगा मज सारेच अता,
शुक-रंभा संवाद नवा हा केह्वांचा चालत होता ?"

बोलीं फिर उस बाला से वे, सुस्मितपूर्वक वैसे ही–
"अजी, खिन्न तुम न हो, हमारे, ये देवर हैं ऐसे ही।
घर में ब्याही बहू छोड़कर, यहाँ भाग आये हैं ये,
इस वय में क्या कहूँ, कहाँ का, यह विराग लाये हैं ये!

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो, मैं भी उन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहो! तुम्हारा, वर मैं इन्हें बनाऊँगी।
पर तुम हो ऐश्वर्य्यशालिनी, हम दरिद्र वन-वासी हैं,
स्वामी-दास स्वयं हैं हम निज, स्वयं स्वामिनी-दासी हैं।।

पर करना होगा न तुम्हें कुछ, सभी काम कर लूँगी मैं,
परिवेषण तक मृदुल करों से, तुम्हें न करने दूँगी मैं।
हाँ, पालित पशु-पक्षी मेरे, तंग करें यदि तुम्हें कभी,
उन्हें क्षमा करना होगा तो, कह रखती हूँ इसे अभी!"

रमणी बोली–"रहे तुम्हारा, मेरा रोम रोम सेवी,
कहीं देवरानी यदि अपनी, मुझे बना लो तुम देवी!"
सीता बोलीं–"वन में तुम-सी, एक बहिन यदि पाऊँगी,
तो बातें करके ही तुमसे, मैं कृतार्थ हो जाऊँगी।।"

"इस भामा विषयक भाभी को, अविदित भाव नहीं मेरे,"
लक्ष्मण को सन्तोष यही था, फिर भी थे वे मुँह फेरे।
बोल उठे अब–"इन बातों में, क्या रक्खा है हे भाभी!
इस विनोद में नहीं दीखती, मुझे मोद की आभा भी।"

"तो क्या मैं विनोद करती हूँ!" बोली उनसे वैदेही,
अपने लिए रूक्ष हो तुम क्यों, होकर भी भ्रातृ-स्नेही?
आज ऊर्मिला की चिन्ता यदि, तुम्हें चित्त में होती है,
कि "वह विरहिणी बैठी मेरे, लिये निरन्तर रोती है।"

रमणी-मुख निरखून जानकी, सुस्मित होउनिया वदलीं
"खिन्न कशाला होशी सखये रीतच ही यांची असली।
घरी शुभांगी पत्नी सोडुनि हे तर वनवासी झाले।
देवा ठावे। तारुण्यातच या, हे कां बैरागी बनले?

तुझिया इच्छेसाठी केवळ, यांना मी समजावीन,
ठेव भरंवसा, करग्रहणही करण्यास तुझे लावीन
विभव शालिनी असशी तू तर, आम्ही सारे वनवासी
स्वामी आम्ही, दासहि आम्ही, कुणी नसे किंकर दासी!

आवरीन मी कामें सगळी, उरेल ना तुजला काही
कष्ट न होतिल पाक सिद्धिचे, झाक पाक तीही नाही
परंतु माझे हे पशुपक्षी कष्टवितील तुला जर का
नको तयांवर क्रोध दाखवू ध्यानी ठेव नीट बरं कां?"

"का उगाच हे असें बोलता कष्ट मला ही अवडती,
पहाच मजला बनवुनि जाऊ नुरतिल कष्ट तुम्हासाठीं,"
रमणीचे वच ऐकुनि सीता वदली, "प्रमदे! या विजनी
सखी लाभणे तुझ्यासारखी भाग्य न हे का थोर वनी?"

"प्रमोदेविषयी माझे मानस जाणुनि वहिनी तरि आहे"
मनी बाळगुनि समाधान हे लक्ष्मण शांत उमा राहे
परि न राहवे ह्मणून वदला "वहिनी! कां थट्टा करिसी
तिळही न मला मोद यात, वृथाच का मजला छळिसी?"

"थट्टा कसली यात कळेना, वर्तन तुमचे रुक्ष असे
बंधु प्रेम अलौकिक असतां निजविषयी निस्संग कसे?
तिथे उर्मिला दुःखी असतां, स्वार्थ विचार बरा न दिसे,
असे कांहीसे मनांत आणुनि कां विरक्त झालात असे?

"तो मैं कहती हूँ, वह मेरी बहिन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुनकर पीछे भी, पावेगी सच्चा सन्तोष।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही, हम सब कुछ भर पाती हैं,
वे सर्वस्व हमारे भी हैं, यही ध्यान में लाती हैं।।

जो वर-माला लिये, आप ही, तुमको वरने आई हो,
अपना तन, मन, धन सब तुमको, अर्पण करने आई हो,
मज्जागत लज्जा तजकर भी, तिस पर करे स्वयं प्रस्ताव,
कर सकते हो तुम किस मन से, उससे भी ऐसा बर्ताव?"

मुसकाये लक्ष्मण, फिर बोले–"किस मन से मैं कहूँ भला?
पहले मन भी तो हो मेरे, जिससे सुख-दुख सहूँ भला!"
"अच्छा ठहरो" कह सीता ने, करके ग्रीवा-भंग अहा!
"अरे, अरे", न सुना लक्ष्मण का, देख उटज की ओर कहा–

"आर्य्यपुत्र, उठकर तो देखो, क्या ही सु-प्रभात है आज,
स्वयं सिद्धि-सी खड़ी द्वार पर, करके अनुज-वधू का साज!"
क्षण भर में देखी रमणी ने, एक श्याम शोभा बाँकी!
क्या शस्यश्यामल भूतल ने, दिखलाई निज नर-झाँकी!

किंवा उतर पड़ा अवनी पर, कामरूप कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें, जीवन का गहरापन था!
देखा रमणी ने चरणों में–नत लक्ष्मण को उसने भेंट,–
अपने बड़े क्रोड़ में विधु-सा, छिपा लिया सब ओर समेट।।

सीता बोलीं–"नाथ, निहारो, यह अवसर अनमोल नया;
देख तुम्हारे प्राणानुज का, तप सुरेन्द्र भी डोल गया!
माना, इनके निकट नहीं है, इन्द्रासन की कुछ गिनती,
किन्तु अप्सरा की भी क्यों ये, सुनते नहीं नम्र विनती?

आश्वासन मी तुम्हांस देते, ती न तुम्हाला देइल दोष
सुखी पाहुनी तुम्हास येथैं, वाटेल तिला अति संतोष!
सती करितसे प्रेम प्रियावर त्यातच ती परिपूर्ण असे
पतिव्रता पतिसुखीं सुखावे समजावू हे तुम्हा कसें?"

वरमाला घेउनि ही बाला तुम्हाला वरण्या आली,
तन-मन-धन सर्वस्व आपुले अर्पाया उद्यत झाली,
ललनासुलभ अशा लाजेवर सोडिले तिने जे पाणी
कशी शोभुनी दिसेल सांगा तुमची ही निष्ठुर करणी?"

"कुण्या मनाने वरुं हिला मी, मजला सांग अता वहिनी?"
आहेच कुठे मन मजपाशी, भोगी जे सुख दुःख जनी?
"असे काय? थांबा तर आतां।" कुटिरामुख वदती झाली
विरोध ना मानिता तयाचा वैदेही हांसत वदली—

"उठुनि यायचें जरा पहाया, सुखद किती ही पहाट आज
सिद्धि ठाकली उंबरठयावर लेवुनि अनुज-बधूचे साज।
नव्हते विरले शब्द हवेवर तों ललनेला तैं दिसलें
मृदु शाद्वल वैभव अवनीचे नर रूपें जणु अवतरले।

क्षितिजावर अथवा अवतरला मेघ धरुनि मदनाचा वेष,
जरि होता ओसंडत तेजें, चांचल्याचा नव्हता लेश।
मेघे आच्छादित चंद्रापरि भुजपाशीं लक्ष्मण दिसला
नव्हता दिसला बंधुप्रीतिचा आविष्कार कधी असला।

म्हणे मैथिली "नाथ पहा हे दृश्य अलौकिक या देही
तप पाहुनि अनुजाचें तुमच्या, चिंतित इंद्र मनीं होई।
इंद्रांसन गणतीत न यांच्या, मजला हे समजू शकतें,
स्वर्ललनेचा मात्र अनादर हे करिती, यांचे चुकते।

तुम सबका स्वभाव ऐसा ही, निश्चल और निराला है,
और नहीं तो आई, लक्ष्मी, कौन छोड़ने वाला है?
कुम्हला रही देख लो, कर में, स्वयंवरा की वरमाला,
किन्तु कण्ठ देवर ने अपना, मानो कुण्ठित कर डाला।।"

मुसकाकर राघव ने पहले, देखा तनिक अनुज की ओर,
फिर रमणी की ओर देखकर, कहा अहा! ज्यों बोले मोर–
"शुभे, बताओ कि तुम कौन हो, और चाहती हो तुम क्या?"
छाती फूल गई रमणी की, क्या चन्दन है, कुमकुम क्या!

बोली वह–"पूछा तो तुमने–शुभे, चाहती हो तुम क्या?"
इन दशनों-अधरों के आगे, क्या मुक्ता हैं, विद्रुम क्या?
मैं हूँ कौन वेश ही मेरा, देता इसका परिचय है,
और चाहती हूँ क्या, यह भी, प्रकट हो चुका निश्चय है।।

जो कह दिया, उसे कहने में, फिर मुझको संकोच नहीं,
अपने भावी जीवन का भी, जी में कोई सोच नहीं।
मन में कुछ वचनों में कुछ हो, मुझमें ऐसी बात नहीं;
सहज शक्ति मुझमें अमोघ है, दाव, पेंच या घात नहीं।।

मैं अपने ऊपर अपना ही, रखती हूँ, अधिकार सदा,
जहाँ चाहती हूँ, करती हूँ, मैं स्वच्छन्द विहार सदा।
कोई भय मैं नहीं मानती, समय-विचार करूँगी क्या?
डरती हैं बाधाएँ मुझसे, उनसे आप डरूँगी क्या?

अर्द्धयामिनी होने पर भी, इच्छा हो आई मन में,
एकाकिनी घूमती-फिरती, आ निकली मैं इस वन में।
देखा आकर यहाँ तुम्हारे, प्राणानुज ये बैठे हैं,
मूर्ति बने इस उपल शिला पर, भाव-सिन्धू में पैठे हैं।।

थण्ड आणि निस्संग तुम्हासम, एका माळेचेच मणी
नाहीतर आलेली लक्ष्मी, धाडिल कां विन्मुख कोणी?
कोमेजुनि चालली कधीचीं वरमाला युवती हाती
मात्र इथें भाउजी बैसले फिरवुनि पाठ तिच्या पुढती।"

हसले राघव, पळभर त्यांनी अनुज मुखालोकन केले
मोरापरि शब्दांनी मोहक, ललनेला पाहुनि वदले,
"सुभगे। तूं आहेस कोण अन् काय इच्छिसी सांग बरें?
प्रश्नातच भरली शीतलता, चंदन-सुख देही पसरे।

"शब्द जया ओठी अवतरले काय इच्छिसी सांग शुभे
बरोबरी त्यांची ना होइल, विद्रुम जरि राहिले उभे
कोण असे मी? कार्य काय मम? कथिले हे आहे पूर्वी,
वेषच माझा देई परिचय, याहुनि काय दुजा नामी?

निस्संकोच मने पुनः कथिन मी, जे जें यापूर्वी कथिले,
भवितव्याची मला न चिंता। जीवन हे माझे असले।
मनीं एक, भलतें आचरणीं, याची मजला चीड असे,
डाव पेंच खेळूच कशाला, शक्ती अतुला करी बसे।

स्वयंशासिनी ही असली मी, माझे मज शासन चाले
स्वच्छंदे मी जगीं विहरते, मना कधी नच आवरलें।
मनींच ना जर लेश भीतिचा, अवेळ मग असणार कशी?
संकटेंच घाबरती मजला, त्यांना मी भीणार कशी?

अर्धरात्र उलटतां अचानक आली लहर फिरायाची.
अेकटीच मग चालुं लागले आस शमविण्या हृदयाची।
इधे वनांतरि फिरतां फिरतां, अनुज मूर्तिपरि बसलेले
पाहुनि भावलीन कुटिसन्निध, मन माझे त्यांवरि गेले–

सत्य मुझे प्रेरित करता है, कि मैं उसे प्रकटित कर दूँ,
इन्हें देख मन हुआ कि इनके—आगे मैं उसको धर दूँ।
वह मन, जिसे अमर भी कोई, कभी क्षुब्ध कर सका नहीं;
कोई मोह, लोभ भी कोई, मुग्ध, लुब्ध कर सका नहीं॥

इन्हें देखती हुई आड़ में, बड़ी देर मैं खड़ी रही,
क्या बतलाऊँ किन हावों में, किन भावों में पड़ी रही?
फिर मानो मन के सुमनों से, माला एक बना लाई,
इसके मिस अपने मानस की, भेंट इन्हें देने आई॥

पर ये तो बस—'कहो, कौन तुम?' करने लगे प्रश्न छूँछा,
यह भी नहीं—'चाहती हो क्या', जैसा अब तुमने पूँछा।
चाहे दोनों खरे रहें या, निकलें दोनों ही खोटे;
बड़े सदैव बड़े होते हैं, छोटे रहते हैं छोटे॥

तुम सबको यह हास्य भले ही, करता हो मेरा उपहास,
किन्तु स्वानुभव, स्वविचारों पर, है मुझको पूरा विश्वास।
तो अब सुनो, बड़े होने से, तुमसें बड़ी बड़ाई है,
दृढ़ता भी है, मृदुता भी है, इनमें एक कड़ाई है॥

पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी, जयमाला-सी वरमाला,
बने अभी प्रासाद तुम्हारी, यह एकान्त पर्णशाला!
मुझे ग्रहण कर इस भामा के, भूल जायेंगे ये भ्रू-भंग,
हेमकूट, कैलास आदि पर, सुख भोगोगे मेरे संग॥"

मुसकाईं मिथिलेशनन्दिनी—"प्रथम देवरानी, फिर सौत!
अंगीकृत है मुझे, किन्तु तुम, माँगो कहीं न मेरी मौत।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके, तुम करती रहने देना,
कहते हैं इसको ही—अँगुली, पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना!

मन होते कुरतडीत आतुनि हृदय-व्यथा प्रगटायाला,
उचंबळुनि आले कंठाशी, ओठी शब्द बनायाला,
विवश ज्यापुढें मोह जहाले, लोभांनी काळे केले,
"अमर" जयास्तव होते झुरले, ते मन कां यांनी हरिले?

एकाग्रमने किती वेळ मी आडुनि अवलोकन केले
भाव कोंदतां अतीव प्रेमळ, राहिल कां मन निजलेलें?
मनीं फुलवुनी अनंत सुमनें त्यांची ग्रथिली ही माला
ह्याना ती अर्पाया आले, हृदय तसें निववायाला।

टाळाटाळ कराबी म्हणुनि हे पुसती "तू असशी कोण?"
'काय वांछिसी?' असे न म्हणती, दिसती हे तुम्हाहुनि गौण!
तुम्ही दोघे असा मानवी, अथवा मायावीं ही असाल
'थोरच असुनी थोर मनाचे' असा बिंबला मनीं ठसा!

मनांत हांसत असाल तुम्ही, थट्टा किंवा करित असाल,
मन माझे श्रद्धेनें-भरले अनुभव-पूर्ण, विचार विशाल!
म्हणून म्हणते, थोरपणासम तुमचे हृदय दिसे जरि थोर
दृढ़ता आणिक मृदुता यांतिल एक दुवा दिसतो कमजोर।

जयमालेसम माझी माला, तुम्हीच सख्या स्वीकारा,
महाल होईल पर्ण-कुटीचा, आसमन्त होइल न्यारा
शर सुटतां आकर्ण धनुंतुनि, तुम्ही मग माझेच बनाल
हेमकूट कैलासपरि सर्व सुखे येथें भोगाल।"

वच हे ऐकुनि वदली सीता, "आहें मान्य मला हे ही"
सवत होइ वा जाऊ ही वन, परि माझे प्राण न नेई
घडो इकडचें दर्शन केवळ याहुनि आस दुजी नाही,
करांगुली तुज दिली धराया, मणिबंधाची कां घाई?

रामानुज ने कहा कि "भाभी, है यह बात अलीक नहीं–
औरों के झगड़े में पड़ना, कभी किसी को ठीक नहीं।
पंचायत करने आई थीं, अब प्रपंच में क्यों न पड़ो,
वंचित ही होना पड़ता है, यदि औरों के लिए लड़ो।।"

राघवेन्द्र रमणी से बोले–"बिना कहे भी वह वाणी,
आकृति से ही प्रकृति तुम्हारी, प्रकटित है हे कल्याणी!
निश्चय अद्‌भुत गुण हैं तुम में, फिर भी मैं यह कहता हूँ–
गृहत्याग करके भी वन में, सपत्नीक मैं रहता हूँ।।

किन्तु विवाहित होकर भी यह, मेरा अनुज अकेला है,
मेरे लिए सभी स्वजनों की, कर आया अवहेला है।
इसके एकांगी स्वभाव पर तुमने भी है ध्यान दिया,
तदपि इसे ही पहले अपने, प्रबल प्रेम का दान दिया।।

एक अपूर्व चरित लेकर जो, उसको पूर्ण बनाते हैं,
वे ही आत्मनिष्ठ जन जग में, परम प्रतिष्ठा पाते हैं।
यदि इसको अपने ऊपर तुम, प्रेमासक्त बना लोगी,
तो निज कथित गुणों की सबको, तुम सत्यता जना दोगी।।

जो अन्धे होते हैं बहुधा, प्रज्ञाचक्षु कहाते हैं,
पर हम इस प्रेमान्ध बन्धु को, सब कुछ भूला पाते हैं।
इसके इसी प्रेम को यदि तुम, अपने वश में कर लोगी,
तो मैं हँसी नहीं करता हूँ, तुम भी परम धन्य होगी।"

भेद दृष्टि से फिर लक्ष्मण को, देखा स्वगुण-गर्जनी ने,
वर्जन किया किन्तु लक्ष्मण की, अधरस्थिता तर्जनी ने!
बोले वे–"बस, मौन कि मेरे, लिए हो चुकी मान्या तुम,
यों अनुरक्ता हुईं आर्य्य पर, जब अन्यान्य वदान्या तुम।।"

अैकुनि हे वच पुसती लक्ष्मण "असें कसें वहिनी बाई?
निघालांत ना न्याय कराया? भेट अतां स्वीकारा ही।
करू नये पंचायत सूज्ञे, हा उपदेश नसे खोटा
भांडणांत दोघांच्या पडतां, व्यर्थ शिरी बसतो सोटा।"

वदले राघव मग प्रमदेला, "वदली जरि नसतीस वचें,
मन झाले मुद्रेवर बिंबित, मुखर जाहले रूप तुझे।
मूर्तिमन्त तू खाण गुणांची, घे ऐकुनि परि माझे बोल
सपत्नीक मी वनीं राहतो, म्हणुनि मनाचा सावर तोल

जीवसरवा हा असा अनुज मम, पत्नीविण एकटा असे
मजसाठी त्यागिली गेहिनी, वृत्ति अलौकिक यात वसे।
स्वभाव एकांगी हा त्याचा विदित तुला झाला होता,
मानस त्याला प्रथम अर्पुनी, कां विनविशि मजला आतां?

ध्येय ठेवुनि दृष्टीपुढती नर जे एकचित्त होती
निष्ठावन्त अशा पुरुषांचे नांव सदा होते जगती।
अनुज एक हा असे त्यातला। जिंकिशील जरि तू याला
पटेल गे तव साक्ष शक्तिची, वल्गनाच ना तरि सांऱ्या"

"प्रज्ञाचक्षु म्हणुनि ओळखती, चर्मचक्षु नसलेल्याला,
जगावेगळया बंधु-प्रीतिने अंध अनुज हा मम झाला।
तुवां जिंकितां प्रीति तयाची, विजय जगी होईल महान्
पारावार न सुखास राहिल, भाग्य तुझ्यासम तुझेच जाण।"

लाल इंगळासम ते डोळे सौमित्रीस क्षणी दिसले,
भिडल्या भृकूटी तिच्या ललाटी, अणु सारे मुख आग जळे।
निर्भीक मनें तिला पुसे तो "शुद्ध असे कां तुज कांही?
अग्रजास आळवितां यापरि मजसाठीं ठरसी आई।"

प्रभु ने कहा कि "तब तो तुमको, दोनों ओर पड़े लाले,
मेरी अनुज-वधू पहले ही, बनी आप तुम हे बाले!"
हुई विचित्र दशा रमणी की, सुन यों एक एक की बात,
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के, और पवन के भिन्नाघात!

कहा क्रुद्ध होकर तब उसने–"तो अब मैं आशा छोड़ूँ!
जो सम्बन्ध जोड़ बैठी थी, उसे आप ही अब तोड़ूँ?
किन्तु भूल जाना न इसे तुम, मुझमें है ऐसी भी शक्ति,
कि झकमार कर करनी होगी, तुमको फिर मुझ पर अनुरक्ति।

मेरे भृकुटि-कटाक्ष तुल्य भी, ठहरेंगे न तुम्हारे चाप",
बोले तब रघुराज–"तुम्हारा, ऐसा ही क्यों न हो प्रताप।
किन्तु प्राणियों के स्वभाव की, होती है ऐसी ही रीति,
परवशता हो सकती है पर, होती नहीं भीति में प्रीति।।"

इतना कहकर मौन हुए प्रभु, और तनिक गम्भीर हुए,
पर सौमित्रि न शान्त रह सके, उन्मुख वे वरवीर हुए–
"और इसे तुम भी न भूलना, तुम नारी होकर इतना–
अहम्भाव जब रखती हो तब, रख सकते हैं नर कितना?"

झंकृत हुई विषम तारों की, तन्त्री-सी स्वतन्त्र नारी,
"तो क्या अबलाएँ सदैव ही, अबलाएँ हैं–बेचारी?
नहीं जानते तुम कि देखकर, निष्फल अपना प्रेमाचार,
होती हैं अबलाएँ कितनी, प्रबलाएँ अपमान विचार!

पक्षपातमय सानुरोध है, जितना अटल प्रेम का बोध,
उतना ही बलवत्तर समझो, कामिनियों का वैर-विरोध।
होता है विरोध से भी कुछ, अधिक कराल हमारा क्रोध,
और, क्रोध से भी विशेष है, द्वेष-पूर्ण अपना प्रतिशोध।।

"प्रश्नतर अतां कठिण जहाला।" सस्मित राम तिला वदले
"होउनि अनुज वधू तू आलिस, म्हणुनि तुला अपयश आले।"
खड्गासम ही तीव्र बोलणी हृदय तिचें कापित गेली
झंझावात भग्न नावेसम दिशाहीन प्रमदा झाली।

विकट स्वरें वदली ती क्रुद्धा "सांगा मी समजूं तरि काय?
प्रेम-बंध जोडिले निज करे, तोडावे हाच कां उपाय?
पश्चाताप न ठरेल तारक, पुनः एकदां करा विचार।
लाविन जर कां पणास शक्ती ठरेल व्यर्थच प्रेम-विचार।

सायक जे चढवाल कार्मुकी ठरतिल नेत्र शरांहुनि क्षीण।
"दावि पराक्रम तुझा सर्वही, जल्पुनि कां वाढविसी शीण"
"ऐक चंडिके।" वदले राघव" बाळगि हे चिर सत्य मनांत,
प्रीत न लाभे भीति दावुनी, परवशताच उरेल जनांत।

तिला ऐकवुनि मानस यापरि, क्षणांत राघव होति गभीर
मौन न राही परि रामानुज, क्रोधे सुटला त्याचा धीर।
वदला, "तू नारी असुनी जर गर्व मनी इतुका धरिसी?
आम्ही तर मूर्तिमंत पौरुष, कशास आम्हा चेतविसी?

बेसुर वीणेपरि झंकारित कर्कश फुटले शब्द तधी
"विपदामुखि सापडता अबला, होई न का प्रबलाच कधी?
साहु न शकते तीव्र पराभव प्रीति पथीं निघतां अबला
सूड-भावना मनीं पेटता तीच बने तत्क्षण सबला।

ज्ञात नसे तिज रीति प्रीतिची, शंका नसतां कुठे उरी
आशंकित जरि क्षणभर झाली, वडवानल भडकेल तरी।
विरोध कडवा उग्र करिल ती, क्रोध कराल तयाहुनिही
रुचला जर प्रतिशोध तिला तर कापवील थरथरां मही।

देख क्यों न लो तुम, मैं जितनी सुन्दर हूँ उतनी ही घोर,
दीख रही हूँ जितनी कोमल, हूँ उतनी ही कठिन-कठोर!"
सचमुच विस्मयपूर्वक सबने, देखा निज समक्ष तत्काल–
वह अति रम्य रूप पल भर में, सहसा बना विकट-कराल!

सबने मृदु मारुत का दारुण, झंझा-नर्तन देखा था,
सन्ध्या के उपरान्त तमी का, विकृतावर्तन देखा था!
काल-कीट-कृत वयस-कुसुम का, क्रम से कर्तन देखा था!
किन्तु किसी ने अकस्मात् कब, यह परिवर्तन देखा था!

गोल कपोल पलटकर सहसा, बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण साँसों से, ओंठ लपालप लत्तों-से!
कुन्दकली-से दाँत हो गये, बढ़ बारह की डाढ़ों से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस, प्रगटे पूरी बाढ़ों-से?

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में, बना चर्म का चीर वहाँ,
हुए अस्थियों के आभूषण, थे मणिमुक्ता-हीर जहाँ!
कन्धों पर के बड़े बाल वे, बने अहो! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी, हुई मुण्डमाला सुविशाल!

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही, उसके दीर्घ शरीर-सखा;
देख नखों को ही जँचती थी, वह विलक्षणी शूर्पणखा!
भय-विस्मय से उसे जानकी, देख न तो हिल-डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ, रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं।।

अग्रज और अनुज दोनों ने, तनिक परस्पर अवलोका,
प्रभु ने फिर सीता को रोका, लक्ष्मण ने उसको टोका।
सीता सँभल गई जो देखी, रामचन्द्र की मृदु मुसकान,
शूर्पणखा से बोले लक्ष्मण, सावधान कर उसे सुजान–

म्हणुनि पहा, आताच सर्वजण माझे रूप कसें विकराल
परिवर्तन पाहुनी भयंकर, क्षणोक्षणी मम वचें स्मराल।"
शब्दनाद पुरता न विरमला, तों दिसले आश्चर्य समोर
क्षणांत ती चारुगात्र नारी बनली कृत्या क्रूर अघोर।

थैमान उठे प्रलय-सागरी, असे भयानक ते न दिसे,
कालसर्प जो जीवा डसतो मुद्रा त्याची अशी नसे।
तमही अवसेच्या हृदयींचा, क्वचित् असा-सावळा असेल
मात्र असें परिवर्तन पाहुनि कुणासही भय ग्रासेल।

सरले यौवन, रूपहि नुरले, अंग भयानक पालटलें
कराल दाढा कुंदकळयांच्या बनल्या दिसता धैर्य पळे।
नुरलें "मंद-श्वसन" सुगंधित आतां उसळे ऊष्ण हवा
अनलातें चेतविण्या अथवा भाताच कुणी चालवी नवा।

नव्हते वसन मनोरम उरलें लक्तरेंच झाली सारी,
पालटलीं ती रत्नमौक्तिकें अस्थिचर्म सारी झाली,
मघाचेच ते लोभस कुंतल, जटाजूट आता बनळे,
सुमन-हार गेले विलयाला मुंडमाळ कंठांत रुळे।

घोर वनांकित रौद्र शैलसम त्या देहास कळा आली
"शूर्प-नखे" हाता पायांवर दिसतां साक्ष तिची पटली।
हृदय-कोमला वैदेहीचे भान तिला पाहतांच सरे,
मुखावरी त्या विवर्ण पांडुर मृत्यूचीच कळा पसरे?

दृष्टि विसावे परस्परांवर दोघांची क्षणमात्र जरी
सरसावे रामानुज पुढती जानकीस राघव जपुनि धरी
सस्मित निरखुनि वदन प्रभूचें, मुद्रा सीतेची खुलली।
शूर्पणखेला करितां शासन गर्जे लक्ष्मण तीव्र स्वरी–

"मायाविनि, उस रम्य रूप का, था क्या बस परिणाम यही?
इसी भाँति लोगों को छलना, है क्या तेरा काम यही
विकृत परन्तु प्रकृत परिचय से, डरा सकेगी तू न हमें,
अबला फिर भी अबला ही है, हरा सकेगी तू न हमे

बाह्य सृष्टि-सुन्दरता है क्या, भीतर से ऐसी ही हाय!
जो हो, समझ मुझे भी प्रस्तुत, करता हूँ मैं वही उपाय
कि तू न फिर छल सके किसी को, मारूँ तो क्या नारी जान,
विकलांगी ही तुझे करूँगा, जिससे छिप न सके पहचान

उस आक्रमणकारिणी के झट, लेकर शोणित तीक्ष्ण कृपाण,
नाक कान काटे लक्ष्मण ने, लिये न उसके पापी प्राण
और कुरूपा होकर तब वह, रुधिर बहाती, बिललाती,
धूल उड़ाती आँधी ऐसी, भागी वहाँ से चिल्लाती

गूँजा किया देर तक उसका, हाहाकार वहाँ फिर भी,
हुईं उदास विदेहनन्दिनी, आतुर एवं अस्थिर भी
होने लगी हृदय में उनके, वह आतङ्कमयी शंका,
मिट्टी में मिल गई अन्त में, जिससे सोने की लंका

"हुआ आज अपशकुन सबेरे, कोई संकट पड़े न हा!
कुशल करे कर्त्तार" उन्होंने, लेकर एक उसाँस कहा
लक्ष्मण ने समझाया उनको–"आर्य्ये, तुम निःशंक रहो,
इस अनुचर के रहते तुमको, किसका डर है, तुम्हीं कहो

नहीं विघ्न-बाधाओं को हम, स्वयं बुलाने जाते हैं,
फिर भी यदि वे आ जायें तो, कभी नहीं घबड़ाते हैं
मेरे मत में तो विपदाएँ, हैं प्राकृतिक परीक्षाएँ,
उनसे वही डरें, कच्ची हों, जिनकी शिक्षा-दीक्षाएँ॥

"हाच हेतु कां कुटिल मानसी होता त्या रूपामागे?
सताविण्या रात्रंदिन सुजनां नटला देह असा कां गे?
भय आम्हा दाखवितेसी कसले? केव्हांच तुला ओळखिले
स्त्री असुनी जिंकिशील पुरुषा, विसर तुझे में स्वप्न खुळें

'सुन्दर तें ते आतुनि भीषण'। सृष्टींतं असें नसले ना?
निसर्गामधें असो कसेही, दण्डणार मी तुझा गुन्हा।
वधीन तुज तर नारी-हत्या-पातक मज हातीं घडणार
विकलांगी केल्याने ओळख सतत तुझी जगता पटणार!"

बोलुनि हे लवली न पापणी, घेउनि शस्त्र तिचेच करी
नाककान छेदुनि तियेचे दुःसह तिज यातना करी,
विरूप रक्तांकित ती झाली, आंक्रंदत उधळली वनी,
दाहि दिशांना धूळ कोदतां प्रलय जणू उतरें भुवनी।

निनादला आक्रोश दूरवर भरुनि राहिला चहू कडे
सीतेला ग्रासिता उदासी मुख पांडुर भीतिनें पडे।
तिचिया अंतर्नेत्रां दिसले दृश्य भयानक अस्फुटसे,
स्वर्ण द्वीप आढळलें जळता, जीवन भासे ध्वस्त जसे।

"सकाळीच अपशकुन जाहला न कळे जाइल दिवस कसा,
असो साउली तुझ्या कृपेची।" प्रार्थित सीता परमेशा
मैथिलीस चितांतुर पाहुनि वदती लक्ष्मण" भय कसलें
जगांत? मी असतांना वहिनी। कोण तुला छेडील बरें?

कोण मूर्ख पाचारिल विपदा स्वयें होउनी जगामधे?
आली जर संकटे जीवनी, व्हावे सन्मुख त्यास बुधे।
सदैव वाटे, जगी जोखिती नरबल, विपदा होउनि क्रूर
ते न उतरती कसोठीस या, प्राप्त जयां शशकांचे ऊर।"

कहा राम ने कि "यह सत्य है, सुख-दुख सब है समयाधीन,
सुख में कभी न गर्वित होवे, और न दुख में होवे दीन।
जब तक सङ्कट आप न आवें, तब तक उनसे डर माने,
जब वे आजावें तब उनसे, डटकर शूर समर ठाने॥

"यदि संङ्कट ऐसे हों जिनको, तुम्हें बचाकर मैं झेलूँ,
तो मेरी भी यह इच्छा है, एक बार उनसे खेलूँ।
देखूँ तो कितनी विघ्नों की, वहन-शक्ति रखता हूँ मैं,
कुछ निश्चय कर सकूँ कि कितनी, सहन शक्ति रखता हूँ मैं॥"

"नहीं जानता मैं, सहने को, अब क्या है अवशेष रहा?
कोई सह न सकेगा, जितना, तुमने मेरे लिए सहा!"
"आर्य्य, तुम्हारे इस किंकर को, कठिन नहीं कुछ भी सहना,
असहनशील बना देता है, किन्तु तुम्हारा यह कहना॥"

सीता कहने लगीं कि "ठहरो, रहने दो इन बातों को,
इच्छा तुम न करो सहने की, आप आपदाघातों को।
नहीं चाहिए हमें विभव-बल, अब न किसी को डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का, यों ही निभृत प्रवाह बहे॥

हमने छोड़ा नहीं राज्य क्या, छोड़ी नहीं राज्य निधि क्या?
सह न सकेगा कहो, हमारी, इतनी सुविधा भी विधि क्या?"
"विधि की बात बड़ों से पूछो, वे ही उसे मानते हैं;
मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूँ; इसको सभी जानते हैं।"

यह कहकर लक्ष्मण मुसकाये, रामचन्द्र भी मुसकाये,
सीता मुसकाईं विनोद के, पुनः प्रमोद भाव छाये।
"रहो, रहो पुरुषार्थ यही है,–पत्नी तक न साथ लाये;"
कहते कहते वैदेही के, नेत्र प्रेम से भर आये॥

वदे जानकी जीवन, "सुखदुख खरेंच असते समयाधीन
सुखांत वा विपदांत नांदतां मनुज सदा असावें लीन!
संकटांसही भिउनि असावें, जोवर असति संकटे दूर
विपदा येतां, तिच्या उरावर चढुनि बैसती केवळ शूर।"

"पडोत माझ्या शिरी आपदा तुम्हाकारणें या पुढती,
पुनः एकदां झेलिनं हांसत, घडोत मज यातना किती।
जोखिन देहांतिल बल माझें विपदा सहन करायाचें
ते कळतां, विपदाघातांनी, ना हताश मन व्हायाचे।"

"शेष कोणत्या विपदा उरल्या सोसायास्तव तुजकरिता?
उरले काय अतां करण्याचें? कां व्याकुळ होतोस वृथा?"
"करीन हासुनि सुसह्य विपदा, मी, दादा। तुमच्या साठी
परंतु तुमचे असे बोलणे, रडूं आणितें मज ओठी।

"कशाला बसता वृथा उगाळित गोष्टी विपदांच्या आतां?
हव्याच कां खावया सदोदित फुका संकटांच्या लाथा!
बल नकोच, विद्वेष नसावा, विभवाची इच्छाच नसे
जीवन-सरित, निरापद वाहो, मनो-कामना हीच वसे।

सोडिलें न कां हासत वैभव, राज-पदहि त्यागिले तसे
बघवणार नाही का दैवा, संथ जीवन-स्वप्न असे?"
"करोत दादा दैव-विचारा, त्यांचा दैवावर विश्वास
मी पुरुषार्थाचा अभिलाषी, त्याविण मज जीवन उपहास।"

हंसले वदुनि असें रामानुज, रामचंद्र पुलकित झाले,
कळी उमलली वैदेहीची, आनंदे कानन डोले।
"कळला हो पुरुषार्थ भाउजी। पत्नी तर सोडुनि आला।"
मृदु-मनोज्ञ भावांचा मोहर वैदेहीमुखिमोहरला।

"चलो नदी को घड़े उठा लो, करो और पुरुषार्थ क्षमा,
मैं मछलियाँ चुगाने को कुछ, ले चलती हूँ धान, समा।
घड़े उठाकर खड़े हो गये, तत्क्षण लक्ष्मण गद्‌गद्-से,
बोल उठे मानो प्रमत्त हो, राघव महा मोद-मद से–

"तनिक देर ठहरो मैं देखूँ, तुम देवर-भाभी की ओर,
शीतल करूँ हृदय यह अपना, पाकर दुर्लभ हर्ष-हिलोर!"
यह कहकर प्रभु ने दोनों पर, पुलकित होकर सुध-बुध भूल,
उन दोनों के ही पौधों के, बरसाये नव विकसित फूल।।

"चला नदीवर, उचला घागर। नको दुजा पुरुषार्थ मला
मत्य-खाद्य घेउनी मागुनी, मी, येते, तुम्ही पुढे चला।"
घेउनि घागर उठले लक्ष्मण मन ओसंडत प्रेम भरे
चित्र प्रीतिचे जगाआगळे, बघुनि राघवा भान नुरे।

दृश्य मनोरम मनी उमटतां राघव-वदनी वच स्फुरले
"स्नेह तुम्हा दोघांतिल पाहुनि निववू दे मजला डोळे."
पावन प्रेमें पुलकित प्रभूने, सारा विसरुनि प्रौढपणां,
सुमने निज प्रीतिची उधळितां दोघे वंदिति प्रभुचरणा।

मुद्रण-दोष शोधन-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	सुवाकित्व
निवेदन	१५	'वाकट'	वाकळ
	१७	वर्षाच्या	वर्षाच्या
	२२	इथलया	इथल्या
	२३	तो	ती
निवेदन	२०	जर चमक जाया	
(हिन्दी)	२१	पहना	पहना
पूर्वाभास	अंत्य	तै	तैं
१३	४	स्वर	स्वन
	७	निद्राजाकी	निद्राजाली
	१५	ती तीर वधू	ती तर वीर बधू
१५	६	अश्रंच्या	अश्रूंच्या
१७	५	बसनी	वसती
	११	कुंठे	कुठे
१९	१३	शब्बाराशी	शबरांशी
२१	१	आगलयाच	आगळयाच
	९	साप्या	सारंया (सा—या)
२३	२	सामोरी	सामोरी
	८	इरिणीय	हरिणीचे
२३	९-१२		
		झीडन	क्रीडत
		गांधिन	गंधित
	२०	बुचकला	बुचकळला
२७	१७	दावाग्नीबधि	दावाग्नीमधि
२९	३	आभिषें	आमिषें
	१३	स्पर्शन	स्पर्श न
	१५	उलकून	उजळून
	२४	स्वतंत्य	स्वातंत्र्य

३१	१८	ह्वयाची	ह्वायची
	१९	प्रश्नतिचा	प्रश्न तिचा
३३	६	ठोचेत	ठोचेल
	१२	वसना	वासना
	२०	प्रश्न	प्रश्न
३५	४	तिची झाली	तिची घाली
	१२	ओसंडुनि	ओसंडति
	१७	याचंका	याचक
३७	१३	अवडती	आवडती
	१७	प्रमोदे विषयी	प्रमदे विषयी
	२०	तिलहि न मला मोद	तिळहि नसे मजमोट मग
३९	२	येथै	येथे
	७	जे	जैं
	१४	अनुज बधूचे	अनुज वधूचे
	२३	इंद्रासन	इन्द्रासन
४१	१	मालेचेचं	माळेचेच
	१६	बसे	वसे
४३	९	कराबी	करावी
	१२	असुनी	असती
	२२	वन	बन
४५	९	जीवस रवा	जीवसखा
	२२	अणु	जणु
४९	१५	बनके	बनले
५१	३	दाखकिलेसी	दाखविसी
५३	१	जानकी जीवन	जानकीजीवन
	१३	कशाला	कशास
	२४	वैदेहीमुखिमोहरला	वैदेहीमुखि मोहरला
५५	७	प्रभून	प्रभुने